निश्चयनय सर्वज्ञता और अध्यात्म भावना

निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्वज्ञताका पर्यवसान आत्मज्ञतामें होता है, वह प्रतिपादन आ० कुन्दकुन्दने नियमसार (गा० १५८) में किया है। उसका विवेचन मैंने अपने 'जैन-दर्शन' ग्रन्थमें किया है। उस सम्बन्धमें कुछ विचारणीय मुद्दे इस प्रकार हैं—

निश्चयनयकी दृष्टिसे जो पर्यवसानका आत्मज्ञतामें किया गया है उस सम्बन्धमें यह विचार भी आवश्यक है कि निश्चयनयका वर्णन स्वाश्रित होता है।[1] निराकार यानी मात्र चैतन्य जब तक स्वीकार रहता है तब तक वह दर्शन है और जब वह साकार ज्ञान अर्थात् ज्ञेयाकार बनता है तब वह ज्ञान कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि निश्चयनयकी दृष्टिमें ज्ञान स्वसे भिन्न किसी पर पदार्थको जानता है क्या ? और यदि जानता है तो उसका यह परका जानना क्या पराश्रित कहा जाकर व्यवहारकी सीमामें नहीं आयगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें अपनी दार्शनिक प्रक्रियासे ऊपर उठकर आ० कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे ही विचार करना होगा। जहाँ कहीं थोड़ा भी पर पदार्थका आश्रय आया कि वह स्थिति निश्चनयकी सीमासे बाहर हो जाती है। समय प्राभृत[2] में ही ज्ञान, दर्शन और चारित्रके गुणभेदको भी व्यवहारनयमें ही डाल दिया है—

"ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥"

अर्थात् चारित्र, दर्शन और ज्ञानका उपदेश व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे न ज्ञान है, न चारित्र और न दर्शन ही है, यह तो शुद्ध ज्ञायक है।

जहाँ तक द्रव्यके परिणमनकी बात है, वह एक द्रव्यमें एक समयमें एक ही होता है। वह भी उसके अपने निज उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक मूल स्वभावके कारण। द्रव्य चाहे शुद्ध या अशुद्ध इस परिणामी स्वभावके कारण वह प्रतिक्षण पूर्वपर्यायको छोड़कर नई पर्यायको धारण करता हुआ अतीतसे वर्तमान होता हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा है। आत्मद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। वह भी इसी ध्रुव नियमके अनुसार प्रतिक्षण परिणामी है। उसके इस एक वर्तमानकालीन परिणमनको ज्ञान, दर्शन, सुख और चारित्र आदि अनेक गुणमुखोंसे देखा जाता है। समस्त गुणोंमें एक चैतन्य जाग्रत् रहता है। वही एक चैतन्यज्योति सभी गुणोंमें प्रकाशमान है - कुन्दकुन्द उसी ज्योतिको 'शुद्ध ज्ञायक' शब्द से कहते हैं। ज्ञान और दर्शनमें भी यही ज्ञायकज्योति प्रवहमान है। जब यह ज्योति स्व से भिन्न किसी ज्ञेयको प्रकाशित करती है तब ज्ञान कही जाती है और जब मात्र स्वको प्रकाशित करती है तब दर्शन कहलाती है। यानी इस ज्योतिमें 'ज्ञान' संज्ञा परके प्रकाशकत्वसे आती है। अब विचार कीजिये कि जो निश्चयनय अपने गुण-गुणीभेदको भी सहन नहीं करता वह परप्रकाशकत्वसे आनेवाली 'ज्ञान' इस संज्ञाको 'चैतन्य' में कैसे स्वीकार कर सकता है ? दूसरे शब्दोंमें वह 'ज्ञायक' को 'शुद्ध ज्ञायक' मानना चाहता है। आत्मा जब तक विभावपरिणति करता है तब तक उसके अनेक योग, उपयोग और विकल्प होते रहते हैं। किन्तु जब वह विभावदशा से स्वभाव में पहुँचता है तब उसकी परिणति एक ही होती है और वह होती है शुद्ध ज्ञायक परिणति। सिद्ध होनेके प्रथम क्षणसे अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध परिणति उसकी होती है। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि सिद्धकी अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध पर्याय

---

१. 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः।' —नियमसार टीका

२. गाथा ७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनी रहती है तो उत्पाद व्यय मानने से क्या लाभ ? इसका सहज समाधान यही है कि यह तो द्रव्यका मूलभूत निज स्वभाव है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हो। बिना इसके वह 'सत्' नहीं हो सकता। उसमें जो अगुरुलघुगुण है उसके कारण यह न गुरु होता है और न लघु, अपने निजद्रव्यत्वको बनाये रखता है। उत्पाद व्यय का यह अर्थ कभी नहीं है कि जो प्रथम समयमें है वह द्वितीय समयमें न हो या उससे विलक्षण ही हो, किंतु उसका अर्थ केवल इतना ही है कि पूर्वपर्याय विनष्ट हो और उत्तर पर्याय उत्पन्न हो। वह उत्तर पर्याय सदृश, विसदृश, अर्धसदृश और अल्पसदृश कैसी भी हो सकती है। 'हो' इतना ही विचारणीय है, 'कैसी हो' यह सामग्रीपर निर्भर करता है। अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध अवस्था यदि रहती है तो रहो इसमें उनके सिद्धत्वकी कोई क्षति नहीं है।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार विभाव अवस्थामें उसके विचित्र अशुद्ध परिणमन होते थे उस प्रकार स्वभाव अवस्थामें नहीं होते। स्वभाव एक ही होता है और शुद्धता भी एक ही होती है।

तो क्या शुद्ध अवस्थामें आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है ? इस प्रश्नका शुद्ध निश्चयनयसे यही उत्तर हो सकता है कि चैतन्यके परिणामी होते हुए भी वह अवस्था नहीं होनी चाहिए जिसमें पर की अपेक्षा हो। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि भेद भी शुद्ध निश्चयनय की दृष्टिमें नहीं हैं। वह तो एक अखण्ड चित्पिण्डको देखता है। 'आत्माके ज्ञानदर्शन आदि गुण हैं' इसे वह भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक मानता है[१]। तथा 'केवलज्ञानादिरूप जीव है' इसे वह निरुपाधि गुणगुण्यभेद विषयक अशुद्ध निश्चयनय समझता है[२]।

सारांश यह है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टिमें किसी भी प्रकार का भेद या अशुद्धता नहीं रहती। इस दृष्टिसे जब सोचते हैं तो जिस प्रकार वर्णादि आत्माके नहीं हैं उसी प्रकार रागादि भी आत्माके नहीं हैं और गुणस्थान पर्यन्त समस्त ज्ञानादि भाव भी आत्माके नहीं हैं। इसी दृष्टिसे यदि 'जाणदि पस्सदि' का व्याख्यान करना हो तो प्रथम तो 'ज्ञान और दर्शन' ये भेद ही नहीं होंगे। कदाचित् स्वीकार करके चलें भी, तो इनका क्षेत्र 'स्वस्वरूप' हो हो सकता है 'स्व' के बाहर नहीं। पर का स्पर्श करते ही वह पराश्रित व्यवहार की मर्यादामें जा पहुँचेगा। ज्ञानका पर पदार्थको जानना यह नय व्यवहार समझता है, वह स्वरूपज्योति है, स्वनिमग्न है, उसका पराश्रितत्व व्यवहार है।

जैनदर्शनकी नय प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह और जटिल है। इसका अन्यथा प्रयोग वस्तुतत्त्वका विपर्यास करा सकता है। अतः जिस प्रकरणमें विवक्षासे जिस नयका प्रयोग किया गया है उस प्रकरणमें उसी विवक्षा से समस्त परिभाषाओं को देखना और लगाना चाहिए। किसी एक परिभाषा को शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे लगाकर अन्य व्यवहारकी परिभाषाओंको पकड़कर घोलघाल करनेमें जैनशासन का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता, किन्तु विपर्यास ही हाथ लगता है।

व्यवहारकी दृष्टि

समयसारमें तो एक अशुद्ध द्रव्य निश्चयनयका विषय मानकर बाकी प्रवर्तक स्वभाव या परभाव सभी व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय अतएव अभूतार्थ कह दिया है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की

---

१. "भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको, यथा आत्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः।" (आलाप प०, पृ० १६८)

२. "तत्र निरुपाधिगुणगुण्यभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयः, यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।" (आलाप प०, पृ० १७७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। नैगमादि नयों का विवेचन वस्तु तत्त्वकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयों का वर्णन अध्यात्म भावना को परिपुष्ट कर हेय और उपादेय के विचार से सन्मार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।

निश्चय और व्यवहारके विचारमें सबसे बड़ा खतरा है—निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ रहनेकी दृष्टिको न समझकर निश्चयकी तरफ झुक जाने और व्यवहार की उपेक्षा करने का। दूसरा खतरा है किसी परिभाषा को निश्चयसे और किसीको व्यवहारसे लगाकर घोल-घाल करने का। आ० अमृतचन्द्रने इन्हीं खतरोंसे सावधान करने के लिये एक प्राचीन गाथा उद्धृत[1] की है—

जदि जिणमयं पवज्जह तो–मा ववहारणिच्छए मुयह।
जेण विणा छिज्जय तित्थं अण्णेण ण तच्चं॥

अर्थात् यदि जिनमत को प्राप्त होवे तो व्यवहार और निश्चयमें भेदको प्राप्त नहीं होना, किसी एक को छोड़ मत बैठना। व्यवहारके बिना तीर्थ का उच्छेद हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्वका उच्छेद होगा।

कुछ विशेष अध्यात्म प्रेमी जैनदर्शनकी सर्वनय संतुलन पद्धतिको मनमें न रखकर कुछ इसी प्रकार का घोलघाल कर रहे हैं। वे एक परिभाषा एक नयकी तथा दूसरी परिभाषा दूसरे नयकी लेकर ऐसा मार्ग बना रहे हैं जो न तो तत्त्वके निश्चय में सहायक होता है और न तीर्थकी रक्षाका साधन ही सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ—निमित्त और उपादानकी व्याख्याको ही ले लें।

निश्चयनयकी दृष्टिसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता। जो जिस रूपसे परिणत होता है वह उसका कर्ता होता है। इसकी दृष्टिसे कुम्हार घड़ेका कर्ता नहीं होता किंतु मृत्पिण्ड ही वस्तुतः घटका कर्ता है, क्योंकि वही घटरूपसे परिणत होता है। इसकी दृष्टिमें निमित्तका कोई महत्त्वका स्थान नहीं है क्योंकि यह नय पराश्रित व्यवहारको स्वीकार ही नहीं करता। व्यवहारनय परसापेक्षता पर भी ध्यान रखता है। वह कुम्हारको घटका कर्ता इसलिये कहता है कि उसके व्यापारसे मृत्पिण्डमेंसे वह आकार निकला है। घटमें मिट्टी ही उपादान है इसको व्यवहारनय मानता है। किन्तु कुम्भकार' व्यवहार वह 'मृत्पिण्ड' में नहीं करके कुम्हारमें करता है। 'घट' नामक कार्यकी उत्पत्ति मृत्पिड और कुम्भकार दोनोंके सन्निधानसे हुई प्रत्यक्ष सिद्ध घटना है। किन्तु दोनों नयोंके देखनेके दृष्टिकोण जुदे-जुदे हैं। अब अध्यात्मी व्यवित कर्तृत्वकी परिभाषा तो निश्चयनय पकड़ते हैं और कहते हैं कि हरएक कार्य अपने उपादानसे उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें कुछ नहीं कर सकता। जिस समय जो योग्यता होगी उस समय वह कार्य अपनी योग्यतासे हो जायगा। और इस प्रति समयकी योग्यताको सिद्धिके लिये सर्वज्ञताकी व्यावहारिक परिभाषाकी शरण लेते हैं। यह सही है कि समन्तभद्र आदि आचार्यों ने और इसके पहिले भी भूतबलि आचार्य ने इसी व्यावहारिक सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया है और स्वयं कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसारमें व्यावहारिक सर्वज्ञताका वर्णन किया है किन्तु यदि हम समन्तभद्र आदिकी व्यावहारिक सर्वज्ञताकी परिभाषा लेते हैं तो कार्योत्पत्तिकी क्रिया भी उन्हींके द्वारा प्रतिपादित बाह्य और अन्तरंग उभय विध कारणोंसे जाननी चाहिए। और यदि हम कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया कुन्दकुन्दकी नैश्चयिक दृष्टिसे लेते हैं तो सर्वज्ञताकी परिभाषाकी नैश्चयिक ही माननी चाहिए। एक परिभाषा व्यवहारकी लेना और एक परिभाषा निश्चयकी पकड़कर घोलघाल करनेसे वस्तुका विपर्यास ही होता है।

इसी तरह व्यावहारिक सर्वज्ञतासे नियतिवादको फलित करके उसे निश्चयनयका विषय बनाकर

१. समयप्रा० आत्म० गा० १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थको रेड़ मारना तीर्थोच्छेदकी ही कक्षामें आता है। तीर्थ प्रवर्तनका फल यह है कि—व्यक्ति उसका आश्रय लेकर असत् से सत्, अशुभ से शुभ, अशुद्ध से शुद्ध और तम से प्रकाश की ओर जावें। परन्तु इस नियतिवादमें जब अपने अगले क्षणमें परिवर्तन करनेकी शक्यता ही नहीं है तब किसलिये तीर्थ-धर्मका आश्रय लिया जाय? दीक्षा, शिक्षा और संस्कारका आखिर प्रयोजन ही क्या रह जाता है? इस तरह जिनवरके दुरासद नयचक्रको नहीं समझकर और समग्र जैनशासनकी सर्वनयमयताके परिपूर्ण स्वरूपका ध्यान नहीं करके कहींकी ईंट और कहीं का रोड़ा लेनेमें न वस्तु तत्त्वकी रक्षा है और न तीर्थ की प्रभावना ही।

आ० कुन्दकुन्दकी अध्यात्मभावना

आ० कुन्दकुन्दने अपने समय-प्राभृतमें अध्यात्म-भावनाका वर्णन किया है। उनका कहना है कि आत्म-संशोधन और शुद्धात्मकी प्राप्तिके लिये हमें इस प्रकारको भावना करनी चाहिए—कि निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। जिस गाथा[1] में उन्होंने व्यवहारको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ की बात कही है। उसके पहिलेकी दो गाथाओंमें वे आत्मभावना करनेकी बात कहते हैं[2]। इतना ही नहीं, वे निश्चयनय से व्यवहारका निषेध करके निर्वाणकी प्राप्तिके लिये निश्चयनयमें लीन होनेका उपदेश करते हैं—

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा पुन मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं॥"

—समयप्रा० गा० २९६।

अर्थात्-इस तरह निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यवहारनय का प्रतिषेध समझना चाहिये। निश्चयनयमें लीन मुनिजन निर्वाण पाते हैं।

इसी तरह उन्होंने और भी मोक्षमार्गी साधकको जीवन-दर्शनकी तथा आत्म-संशोधनकी प्रक्रिया और भावनाएँ बताई हैं जिनसे चित्तको भावितकर साधक शान्तिलाभ कर सकता है। परन्तु भावनासे वस्तु-स्वरूपका निरूपण नहीं होता। वही कुन्दकुन्द जब वस्तु स्वरूपका निरूपण करने बैठते हैं तो प्रवचनसार व पंचास्तिकाय का समस्त तत्त्व वर्णन उभयनय समन्वित अनेकान्तदृष्टिसे होता है।

भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे जो विपर्यास और खतरा होता है तथा उसके जो कुपरिणाम होते हैं वे किसी भी दर्शनके इतिहासके विद्यार्थीसे छिपे नहीं हैं। बुद्ध ने स्त्री आदिसे विरक्तिके लिये उसमें क्षणिक परमाणुपुंज स्वप्नोपम मायोपम शून्य आदि की भावना करनेका उपदेश दिया। पीछे उन एक-एक भावनाओंको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे क्षणिकवाद, परमाणुपुञ्जवाद, शून्यवाद आदि वादों की सृष्टि हो गई और पीछे तो उन्हें दर्शनका रूप ही मिल गया। जैन परम्परामें भी मुमुक्षुओंको अनित्य, अशरण, अशुचि आदि

---

१. "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥" —समयप्रा० गा० १३.

२. "णाणम्हि भावना खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिदि आदा तम्हा कुण भायणं आदे॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि-अचिरेण कालेण॥" —समयप्रा० गा० ११।१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावनासे चित्तको भावित करनेका उपदेश दिया गया है। इन्हें अनुप्रेक्षा संज्ञा भी इसीलिये दी गई है कि इनका बार-बार चिन्तन किया जाय। अनित्य भावनामें वही विचार तो हैं जो बुद्धने कहे थे कि—जगत् क्षणभंगुर है, अशुचि है, स्वप्नवत् है, माया है, मिथ्या है आदि। इसी तरह स्त्रीसे विरक्तिके लिये उसमें 'नागिन, सर्पिणी, नरककी खान, विषबेल' आदि की भावना करते हैं, पर इससे वह नागिन या सर्पिणी तो नहीं बन जाती या नागिन और सर्पिणी तो नहीं है। जैसे इस भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देकर वस्तुविपर्यास नहीं किया जाता, उसी कुन्दकुन्दकी अध्यात्म भावनाको हमें भावनाके रूपमें ही देखना चाहिये, तत्त्वज्ञानके रूपमें नहीं। उनके तत्त्वज्ञानका ठोस निरूपण यदि प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदिमें देखनेको मिलता है तो आत्मशोधनकी प्रक्रिया समयसारमें।

निश्चय और व्यवहारनयोंका वर्णन वस्तु तत्त्वके स्वरूपके निरूपणसे उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना हेयोपादेय विवेचनसे। 'स्त्री किन-किन निमित्त और उपादानोंसे उत्पन्न हुई है' यह वर्णन अध्यात्म भावनाओं में नहीं मिलता, किन्तु 'स्त्रीको हम किस रूपमें देखें' जिससे विषय विरक्ति हो, यह प्रक्रिया उसमें बताई जाती है। अतः यह विवेक करने की पूरी-पूरी आवश्यकता है कि कहाँ वस्तु तत्त्वका निरूपण है और कहाँ भावनात्मक वर्णन है। मुझे यह स्पष्ट करनेमें कोई संकोच नहीं है कि कभी-कभी असत्य भावनाओंसे भी सत्यकी प्राप्तिका मार्ग अपनाया जाता है। जैसे कि स्त्रीको नागिन और सर्पिणी समझकर उससे विरक्ति करानेका। अन्ततः भावना, भावना है, उसका लक्ष्य वैज्ञानिक वस्तु तत्त्वके निरूपणका नहीं है, किन्तु है अपने लक्ष्यकी प्राप्तिका जबकि तत्त्वज्ञानके निरूपण की दिशा वस्तुतत्त्वके विश्लेषण पूर्वक वर्णन की होती है। उसे अमुक लक्ष्य बने या बिगड़े यह चिन्ता नहीं होती। अतः हमें आचार्योंकी विभिन्न नयदृष्टियोंका यथावत परिज्ञान करके तथा एक आचार्यको भी विभिन्न प्रकरणोंमें क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही सर्वनयसमूह साध्य अनेकान्त तीर्थकी व्याख्यामें प्रवृत्त होना चाहिए। एक नय यदि नयान्तरके अभिप्रायका तिरस्कार या निराकरण है तो वह सुनय नहीं रहता दुर्नय बनकर अनेकान्तका विघातक हो जाता है। भूतबलि, पुष्पदन्त, उमास्वामी, समन्तभद्र और अकलङ्कदेव आदि आचार्योंने जो जैन-दर्शनका मुनिवादी पायेदार निर्बाध तथा सुदृढ़ भूमिका निरूपण किया है वह यों ही 'व्यवहार' कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। कोई भी धर्म अपने 'तत्त्वज्ञान' और 'दर्शन' के बिना केवल नैतिक नियमोंके सिवाय और क्या रह जाता है। ईसाईधर्म और इस्लामधर्म अपने 'दर्शन' के बिना आज परीक्षा प्रधानी मानवको अपनी ओर नहीं खींच पाते। जैन-दर्शनने प्रमेयको अनेकान्त रूपता, उसके दर्शनको 'अनेकान्त-दर्शन' और उसके कथनकी पद्धति का 'स्याद्वाद भाषा' का जो रूप देकर आज तक भी 'जीवितदर्शन' का नाम पाया है उसे 'व्यवहार' के गड्ढे में फेंकनेसे तीर्थ और शासन की सेवा नहीं होगी। जैन-दर्शन तो वस्तु व्यवस्थाके मूल रूपमें ही लिखता है कि—

"स्वपरात्मोपादानापोहनापाद्यत्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।"

अर्थात् स्वोपादान यानी स्वास्तित्वके साथ ही साथ पर की अपेक्षा नास्तित्व भी वस्तुके लिये आवश्यक है। यह अस्ति और नास्ति अनेकान्त दर्शनका क ख है, जिसकी उपेक्षा वस्तु स्वरूपकी विघातक होगी।

सम्यक् नियतिवादके समर्थनमें उपयोग करना जैनीनयदृष्टिको गहराईसे न समझनेका ही परिणाम है। आचार्य अमृतचन्द्रने ठीक ही कहा कि—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित नयचक्रका समझना अत्यन्त कठिन है। यह दुधारी तलवार है। इसे बिना समझे चलानेवाला विनाशकी ओर ही जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकों स्थलोंमें यह स्पष्ट किया है कि परिणामी आत्मा और परिणामी पुद्गल एक-दूसरेके निमित्तसे परिणमन करते हैं। यदि आत्मद्रव्यमें अपनेको बुद्धिपूर्वक अचारित्रसे चारित्रकी ओर ले जानेकी शक्यता या अवसरके उपयोग करनेकी प्रवृत्तियोग्यता हो तो क्यों ये सब चरित्रनिर्माण और जीवोद्धारके प्रयत्न आज तक असंख्य तीर्थंकरों व आचार्योंने किये ? ये तो इसीलिये हुए कि न मालूम किस निमित्तसे कौन सुलट जाय। किसकी उपादानयोग्यता किस निमित्तसे विकसित हो जाय। 'सब कार्य उपादान योग्यतासे होते हैं' इसमें किसीको विवाद नहीं है परन्तु उपादानयोग्यतायें सबमें मूलतः समान होनेपर भी उनके विकासकी सामग्री अनेक होती हैं। जिसकी योग्यताके विकासके लिए जो सामग्री फिट (अनुकूल) बैठ जाती है उससे उस योग्यताका विकास हो जाता है। इसीलिए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द[1] ने अनेक नयदृष्टियोंसे आत्माका वर्णन करके स्वकर्तृत्वकी शक्यता और अवसरका विचार करके कषायत्याग और सत्प्रवृत्तिमें प्रयत्न करनेका उपदेश दिया है। 'पुरुषार्थसे अनादिकालीन मलिन आत्मा भी धीरे-धीरे शुद्ध हो सकती है' यह शक्यता उनने स्वयं स्वीकार की है।

आत्मस्वरूप

तीर्थंकर महावीरने उपर्युक्त सभी कुदृष्टियोंसे ऊपर उठकर केवलज्ञानसे आत्माका यथार्थ साक्षात्कार किया और बताया कि जगत्का प्रत्येक द्रव्य अपने मूलस्वरूपको अनादिसे रखता आया है और अनन्तकाल तक रखेगा, उसके मूलस्वरूपका कभी समूल विनाश नहीं हो सकता। इस तरह अपनी अनादि-अनन्त परम्परासे वह नित्य या ध्रुव होकर भी प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़ता है और नवीन उत्तर पर्यायको ग्रहण करता हुआ पर्यायोंकी धारामें प्रवहमान है। कोई भी द्रव्य इसका अपवाद नहीं है। आत्मा जड़ पदार्थोंसे भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। वह चैतन्यमय है और असंख्य परिवर्तन करनेपर भी वह अपने चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता। उसके जितने भी परिणमन हुए हैं या होंगे वे सभी चैतन्यमय होंगे। वही अनादिकालसे अशुद्ध हुआ चला आ रहा है और वही शुद्ध होगा। उसकी चैतन्यधारामें सामग्रीके अनुसार असंख्य प्रकारके परिणमन होते रहते हैं।

नियत-अनियत तत्त्ववाद

इसमें इतना नियत है कि—

१—संसारमें जितने द्रव्य हैं—यानी अनन्त आत्मद्रव्य, अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य, असंख्यकालाणु द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य और एक आकाश द्रव्य, इनकी संख्यामें न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। न किसी नये द्रव्यकी उत्पत्ति होगी और न किसी मौजूदा द्रव्यका समूल विनाश ही, अनादिकालसे इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

२—प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण पुरानी पर्यायको छोड़ता है, नई पर्यायका ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्वकी अनुवृत्ति रखता है। द्रव्य चाहे शुद्ध या अशुद्ध इस परिवर्तनचक्रसे अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थके उत्पाद और व्यय रूप इस परिवर्तनको रोक नहीं सकता और न इतना विलक्षण परिणमन ही करा सकता है कि वह अपने मौलिक सत्त्वको ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्दके निश्चय-व्यवहारके स्वरूपके लिये देखिये लेखकका 'जैन-दर्शन' नामक मौलिक ग्रन्थ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३–कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नहीं कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर ही बन सकता है। वह चेतन वही चेतन रहेगा।

४–जिस प्रकार दो या अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर एक संयुक्त समान स्कन्ध रूप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं, उस तरह दो चेतन या अन्य धर्मादिद्रव्य मिलकर संयुक्तपर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते।

५–प्रत्येक द्रव्यकी अपनी मूल द्रव्य शक्तियाँ और योग्यतायें समान रूपसे निश्चित हैं। उनमें हेर-फेर नहीं हो सकता। कोई नई शक्ति कारणांतर से ऐसी नहीं आ सकती जिसका अस्तित्व उस द्रव्यमें न हो। इसी तरह कोई द्रव्यशक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं हो सकती।

६–द्रव्यशक्तियों के समान होनेपर भी अमुक चेतन या अचेतनमें स्थूल पर्याय सम्बन्धी अमुक योग्यतायें भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती है उसका विकास हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें पुद्गलकी सभी द्रव्य योग्यतायें रहनेपर भी मिट्टीके पुद्गल ही साक्षात् घड़ा बन सकते हैं, कङ्कड़ोंके पुद्गल नहीं। तंतुके पुद्गल ही साक्षात् कपड़ा बन सकते हैं मिट्टीके पुद्गल नहीं, यद्यपि घड़ा और कपड़ा दोनों ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तरमें बदलते हुए मिट्टीके पुद्गल भी कपड़ा बन सकते हैं और तन्तुके पुद्गल भी घड़ा। तात्पर्य यह कि संसारी जीव और पुद्गलोंकी अपनी-अपनी द्रव्य शक्तियाँ समान होनेपर भी अमुक स्थूल पर्यायमें अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं, शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलनेपर भी तत्काल विकसित नहीं हो सकतीं।

७–यह नियत है कि उस द्रव्यकी उस स्थूल पर्यायमें जितनी पर्याय योग्यतायें हैं उनमेंसे ही जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है उसका ही विकास होता है शेष तत्पर्याययोग्यतायें द्रव्यकी मूल योग्यताओंकी तरह सद्भावमें ही बनी रहती हैं।

८–यह भी नियत है कि अगले क्षणमें जिस प्रकार सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्यका परिणमन उससे प्रभावित होगा। इसी तरह सामग्रीके अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं उनके परिणमन भी इस द्रव्यसे प्रभावित होंगे। जैसे कि ऑक्सीजनके परमाणुको यदि हाइड्रोजनका निमित्त मिल जाता है तो दोनोंका जल रूपसे परिणमन हो जायगा अन्यथा जैसी सामग्री मिलेगी उस रूपसे वे परिणमन हो जायेंगे।

जैन-दर्शनने 'वस्तु क्या है, यह जो पर्यायोंका उत्पाद और व्यय है उसमें निमित्त उपादानकी क्या स्थिति है' इत्यादि समस्त कार्यकारणभाव, उनके जाननेकी क्या पद्धति हो सकती है? इस समस्त ज्ञापक-तत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण किया है। इस कारण तत्त्व और ज्ञापक तत्त्वमें भावनाका स्थान नहीं है। इसमें तो कठोर परीक्षा और वस्तु स्थितिके विश्लेषणकी पद्धतिका प्रामुख्य है। अतः जहाँ वस्तु तत्त्वका निरूपण हो वहाँ दर्शनकी प्रक्रियासे उसका विवेचन कीजिये और उत्पन्न तथा ज्ञापित वस्तुमें किस प्रकारकी भावना या चिंतनसे हम रागद्वेषसे वीतरागताकी ओर जा सकते, इस अध्यात्म भावनाको समयसारसे परखिए। भावना और दर्शनका अपना-अपना निश्चित क्षेत्र है उसे एक दूसरेसे न मिलाइए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर वाणी

तीर्थंकर महावीरने बिहारकी पुण्यभूमि वैशालीमें आजसे २५५७ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। तीस वर्षकी भरी जवानी में राजवैभवको लात मार वे आत्मसाधनामें लीन हुए थे, व्यक्तिकी मुक्ति और समाजमें शान्तिका मार्ग खोजनेके लिए। बारह वर्षकी सुदीर्घ (लम्बी) तपस्याके बाद उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया। उसके बाद लगातार ३० वर्ष तक वे बिहार, उड़ीसा, बंगाल और उत्तर-प्रदेश आदिमें सतत पाद विहारकर धर्मोपदेश देकर सर्वोदयतीर्थका प्रवर्तन करते रहे। वीरभूमि और वर्धमान जिले तीर्थंकर महावीरकी यशोगाथाका गान अपने नामों द्वारा आज भी कर रहे हैं।

वे तीर्थंकर थे। तीर्थंकर जन्म-जन्मान्तरसे यह संकल्प और भावना रखता है कि—मुझे जो शक्ति, सामर्थ्य और विभूति प्राप्त हो उसका एक-एक कण जगत्के कल्याण व उद्धारके लिए अर्पित है। अज्ञानके अन्धकार और तृष्णाके जालमें पड़े हुए प्राणी कैसे प्रकाश पाएँ और कैसे तृष्णाके जालको भेदकर सन्मार्गमें लगें, यह उनके जीवनका प्रमुख लक्ष्य होता है। वह उस अनुभूत धर्म या तीर्थका उपदेश देता है जिसपर चलकर उसने स्वयं जीवनका चरम लक्ष्य पाया होता है और वह खपा देता है अपनेको प्राणिमात्रके उद्धार और विश्वके कल्याण में।

उन्होंने अपने सर्वोदय तीर्थका उपदेश उस समयकी जनताकी बोली अर्धमागधीमें दिया था। अर्ध-मागधी वह भाषा थी जिसमें आधे शब्द मगध देशकी भाषाके थे जो महावीरकी मातृभाषा थी और आधे शब्द विदेह अंग, वंग, कलिंग आदि अठारह महाजनपदोंकी महाभाषाओं और ७०० लघु भाषाओंके थे। यानी उनकी भाषामें सभी बोलियोंके शब्द थे। इसका कारण था कि उन्हें उन पतित, शोषित, दलित और अभि-द्रावित शूद्रों तकको सद्धर्मके अमृतका पान कराना था जिनने सदियोंसे धर्मका शब्द नहीं सुना था। जो धर्म तो क्या मनुष्यतासे वंचित थे। जिनकी दशा पशुओंसे भी बदतर थी। जो धर्म वर्गविशेषमें कैद था और वर्गविशेषकी प्रभुताका मात्र साधन बना हुआ था उस धर्मका द्वार जन-जनके कल्याणके लिए उन्हींकी भाषामें उपदेश देकर इन तीर्थंकरने खोला। आज प्रान्तीय भाषाओंके नामपर झगड़नेवाले हमलोगोंको महावीर और बुद्धकी उस लोकभाषाकी दृष्टिकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है कि भाषा एक वाहन है विचारोंको ढोनेका। वह उतना समृद्ध होना चाहिए जिसका उपयोग बहुजन कर सकें। हिन्दी और हिन्दुस्तानी तथा प्रान्तीय भाषाओंके विवादको हमें इसी संग्राहक दृष्टिसे हल कर लेना चाहिए।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं णमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप अर्थात् अपनी इच्छाओंको निरोध करना धर्मका मूल रूप है। जिसके जीवन और मनमें धर्म आ गया उसे देव-श्रेष्ठजन भी नमस्कार करते हैं।

अहिंसाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि—

'जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे यह आयमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति एवं भासंत्ति एवं पन्नवेन्ति एवं परूवेन्ति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जायेतव्वा न परिधेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जितने अरिहंत या तीर्थंकर हो चुके हैं, तथा होंगे वे सब एक ही बात कहते हैं, एक ही बात बताते हैं, एक ही धर्मका प्रतिपादन करते हैं, एक ही सद्धर्मकी घोषणा करते हैं कि किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव या किसी सत्व यानी छोटे-मोटे स्थावर या जंगम किसी भी जीवको न मारना चाहिए, न पकड़ना चाहिए, न कष्ट पहुँचाना चाहिए। यह धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। और उन्होंने इस अहिंसाकी कसौटी कितने प्यारे शब्दोंमें बताई है—

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला' अर्थात् सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्यारा है, सभी सुख-शान्ति चाहते हैं और सभीको दुःख बुरा लगता है। और—

'जह मम ण पियं दुक्खं जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं'।

जैसे हमें दुःख अच्छा नहीं लगता ऐसे ही सभी जीवोंको जानो।

अतः

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं णिग्गंथा वज्जियंति णं॥'

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। अतः सभी प्रकारके प्राणीवध अर्थात् हिंसासे निर्ग्रन्थ परहेज करते हैं उसका त्याग करते हैं।

उन्होंने सभी प्राणियोंमें आत्मोपम्यकी भावनाको जगाते हुए कहा—'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मनसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परिया-वेयव्वं ति मन्नसि'—

भद्र पुरुषों, जिसे तुम कष्ट देना चाहते हो वह तुम्हीं हो, वह तुम जैसा ही है। जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम्हीं हो। जिसे तुम सताना चाहते हो वह तुम्हीं हो। जिसे तुम तंग करना चाहते हो वह तुम्हीं हो। यानी जब तुम किसीको मारने या हिंसा करनेको तैयार होते हो तो तुम स्वयं अपनी हिंसा करते हो।

जिस क्रोध, अहंकार, माया और लोभके वशीभूत होकर तुम हिंसा और अन्य पापकार्योंमें प्रवृत्त होते हो वे सर्वनाशके द्वार हैं—

'कोहो पीइं विणासेइ माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि णासेइ लोभो सव्वविणासणो॥'

क्रोध मित्रता या प्रीतिका नाश कर देता है। मान विनयको छिन्न-भिन्न कर देता है। माया मित्र-भावको नष्ट कर देती है और लोभ तो सर्वविनाशकारी होता है।

अतः इन चार अन्तरंग शत्रुओं को—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण लोहं संतोसओ जिणे॥

उपशमभाव अर्थात् क्षमा या शान्तिसे क्रोधका नाश करे, उसे जीते। विनय या कोमल भावनाओंसे मानका मद चूर करे। सरलता या ऋजु भावोंसे मायाको जीते और सन्तोषसे लोभको जीते।

उनकी धर्मोपदेशकी सभाको समवसरण कहते हैं। समवसरण-सम अवसरण अर्थात् जिसमें सबको समान अवसर हो। इसीलिए उनकी सभामें शूद्र, माली, कोरी, चमार, नाई, चांडाल सभी जाते थे। उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभामें स्त्रियोंको भी समान स्थान था और शूद्रोंको भी। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी भी अपना जातिविरोध भूलकर इस अहिंसामूर्तिके दर्शनकर एक जगह बैठते थे। उन्होंने सबको धर्मका उपदेश देते हुए बताया था कि–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूपसे यह वर्णव्यवस्था समाजरचना और व्यवस्थाके लिए अपने गुण और कर्मके अनुसार है। वह जन्मना नहीं है, अपने आचरण से है। कोई भी शूद्र सदाचार धारणकर ब्राह्मणसे भी ऊँचा हो सकता है और कोई ब्राह्मण भी दुराचारके कारण शूद्र से भी नीचा। वे कहते हैं—

"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

अपने कर्म-आचरणसे ही ब्राह्मण होता है, कर्मसे ही क्षत्रिय होता है, वैश्य भी कर्मसे होता है तथा शूद्र भी कर्मसे ही बनता है।

उन्होंने बाह्यक्रियाकांडियों को झकझोरते हुए कहा—

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण ण तावसो॥

कोई मूड़ मुड़ा लेने मात्रसे श्रमण नहीं हो सकता और न ओंकारके रटने से ब्राह्मण ही। न जंगलमें बस जानेसे मुनि बन सकता है और न मूंजकी रस्सी बाँध लेनेसे तपस्वी ही। तब—

"समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण मुणी होई तवेण होइ तावसो॥"

समता से श्रमण होता है। जिसके जीवन में शम-शान्ति सम-समत्वकी भावना और श्रम-स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा हो वही सच्चा श्रमण है। ब्रह्मचर्य से अर्थात् आत्मधर्ममें विचरण करने से ब्राह्मण होता है न कि बाह्य क्रियाकांड से। ज्ञान से मुनी होता है और इच्छाओंका निरोध करनेसे तपस्वी होता है। उन्होंने सच्चे ब्राह्मणकी परिभाषा करते हुए कहा—

"जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहि तं वयं बूम माहणं॥"

जिस प्रकार कमल जलमें उत्पन्न होकर भी उससे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार संसारमें रहकर जो कामभोगोंमें लिप्त नहीं होता वह सच्चा ब्राह्मण है।

और इसीलिए महावीरके धर्मसे अर्जुनमाली और हरिकेशी चांडाल जैसे पतितोंका भी उद्धार हुआ था और उन्हें धर्मक्षेत्र में वही दरजा प्राप्त था जो गौतम जैसे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को।

जब उनके परम प्रिय शिष्य गौतमने तीर्थंकर महावीरसे गिड़गिड़ाकर कहा—प्रभु, मेरा उद्धार करो, तुम ही मुझे तार सकते हो तो उन्होंने कहा था—गौतम, तुम स्वयं ही अपना उद्धार कर सकते हो, कोई किसीका उद्धार करनेवाला नहीं है। जब तक तुम्हारे जीवनमें थोड़ा भी परावलम्बन होगा तब तक तुम पराधीन रहोगे और बन्धनमें पड़े रहोगे। वे बोले—

"पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बाहिरा मित्तमिच्छसि।" भव्य पुरुषो, तुम स्वयं अपने मित्र हो, बाहिर मित्र कहाँ ढूँढते हो ?

४–४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्पा नई वैयरणी अप्पा मे कूड सामली ।
अप्पा कामदुहा घेणू अप्पा मे नंदणं वणं ।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण दुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।।

आत्मा ही नरक की वैतरणी या कूट शाल्मली वृक्ष है । आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु और नंदन वन है । यह आत्मा ही अपने सुख और दुःख का कर्ता और भोक्ता है । कोई अन्य ईश्वर इसके पुण्य-पाप का लेखाजोखा नहीं रखता और न पुण्य-पापके फल भोगके लिए स्वर्ग या नरक भेजनेवाला है । बुरे मार्गपर चलनेवाला आत्मा ही शत्रु है और सुमार्ग पर चलनेवाला आत्मा ही मित्र है ।

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं ।'

सत्य ही संसारमें सारभूत है । यह था उनका जीवन सूत्र । समाज रचनाका आधारभूत सूत्र बताते हुए उन्होंने अपरिग्रहका उपदेश दिया और बताया कि—

"धणधन्नपेस्सवग्गेसु परिग्गह विवज्जणं ।"

धन-धान्य और नौकर-चाकर आदिके परिग्रहका त्याग करना ही सर्वोत्तम है । पूर्ण त्याग संभव न हो तो कम से कम परिग्रह रखकर जीवनको स्वावलम्बी बनाना चाहिए । अचौर्यव्रतको भी समाज रचनाका आधार बताते हुए कहा कि—

"तं अप्पणा न गिण्हंति नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि नानुजाणंति संजया ।।"

संयमी पुरुष स्वयं दूसरेकी वस्तुको ग्रहण नहीं करते, न दूसरों से चुरवाते हैं और न चोरी करनेवाले की अनुमोदना ही करते हैं ।

उन्होंने दूसरोंके विचारोंके प्रति उदारता और सहिष्णुता वर्त्तनेके लिए अनेकान्तदृष्टिकी साधनाका मार्ग सुझाया कहा । यथा—

"जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वयई ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स ।।"

जिस विचारसहिष्णुता के प्रतीक अनेकान्तदर्शनके बिना लोकव्यवहार भी नहीं चलता उस संसारके एकमात्र गुरु अनेकान्त वादको नमस्कार हो ।

इस तरह विचारमें अनेकान्त, आचार में अहिंसा, समाज रचनाके लिए अचौर्य, सत्य और अपरिग्रह तथा इन सबकी साधनाके लिए ब्रह्मचर्यका उपदेश देकर अन्तिम समयमें उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य गौतमको लक्ष्यकर जिस अप्रमादका उपदेश दिया था वह है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा णिवडइ राइगणाण अच्चाए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ।।

जैसे पतझड़के समय पीला पत्ता झड़ जाता है ऐसे ही यह मनुष्य-जीवन क्षणभंगुर है । गौतम, एक क्षण भी प्रसाद न कर ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥

जैसे घासकी नोकपर पड़ी हुई ओसकी बूंद थोड़े ही समय ठहरती है ऐसे ही मनुष्योंका जीवन है न जाने कब ढुलक जाय। गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पंडुरमा हवंति ते।
से सव्वबले य हायइ समयं गोयम मा पमायए॥

तेरा शरीर जीर्ण होता जाता है। बाल पक गये हैं। सारी शक्ति धीरे-धीरे विलीन होती जा रही है। गौतम, क्षण भर भी प्रमाद न कर।

"तिण्णोसि अण्णवं महं किह पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम मा पमायए॥"

गौतम, तू सारा भव समुद तैर चुका। अब किनारेपर आकर क्यों हिम्मत हारता है—एक आखिरी छलाँग लगाओ। गौतम, क्षण भर भी प्रमाद नहीं करो। यही भगवान् की पुण्य देशना है—

"णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स"।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org